प्रतिमान

जुलाई–दिसम्बर, 2013 | वर्ष 1, खण्ड 1, अंक 2

समय समाज संस्कृति

शर्मिला रेगे

एक अनूठी त्रिवेणी

सतीश देशपांडे

सीधे-सपाट शब्दों में कहा जाए तो शर्मिला रेगे (1964-2013) एक सुप्रसिद्ध नारीवादी चिंतक, कर्मठ प्राध्यापिका, और दलित-बहुजन विचारधारा की प्रतिबद्ध समर्थक थीं जिन्हें कैंसर की बीमारी ने मात्र अड़तालीस वर्ष की अल्पायु में शरीर त्यागने को मजबूर कर दिया। लेकिन इस शुष्क विवरण में उस दीप्तिमान, एकाग्रचित्त और जुझारू शख़्सियत की कोई झलक नहीं मिलती जिसके अचानक बुझ जाने के सदमे से उनके मित्र, सहकर्मी और छात्र आज तक नहीं उबरे हैं। उनसे और उनके बहुआयामी काम से महिला और दलित आंदोलनों को ही नहीं, उच्चशिक्षा और समाजशास्त्र के जगत को कितनी और कैसी अपेक्षाएँ थीं, इसका अनुमान उन्हें समर्पित स्मृति-लेखों से लगाया जा सकता है।[1]

---

[1] जे. देविका, मैरी जॉन, कल्पना कन्नाबिरन, समिता सेन, एवं पद्मिनी स्वामीनाथन (2013), 'ट्रिब्यूट टू ए फुले-अंबेडकराइट फ़ेमिनिस्ट वेल्डर' (एक फुले-अंबेडकरवादी नारीवादी वेल्डर को श्रद्धांजलि), *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 48, अंक 32 : 22-25; डी.एन धनागरे (2013), 'शर्मिला रेगे (1964-2013) : परस्यूइंग नॉलेज फ़ॉर सोसियल ट्रांसफ़ॉरमेशन' (सामाजिक रूपांतरण के लिए ज्ञान की साधना), *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 48, अंक 32 : 25-27; मैरी जॉन (2013), 'शर्मिला रेगे (1964-2013)', *कंट्रिब्यूशंस टू इण्डियन सोसिऑलॅजी,* खण्ड 47, अंक 3 : 445-48.

शर्मिला रेगे का बुनियादी शिक्षण-प्रशिक्षण समाजशास्त्र के अनुशासन में हुआ था, और इस अनुभव का उन पर गहरा असर पड़ा। जिन तीन मुद्दों व सवालों को लेकर वे अपने अनुशासन की रूढ़ियों से टकराती रहीं— वही उनके चिरंतन-सरोकार बने और उन्हीं सवालों से उनकी सार्वजनिक पहचान भी बनी। तीन मुख्य मुद्दों में पहला था समाजशास्त्रीय सिद्धांत के समक्ष नारीवादी चिंतन की चुनौती। इस मुठभेड़ को सकारात्मक संवाद में बदलने के लिए शर्मिला ने जीवन भर मेहनत की। इस प्रयास की पहली मिसाल है पीएच.डी. की उपाधि के लिए लिखा गया उनका शोध-प्रबंध 'फ्रॉम मेनस्ट्रीम टु मेलस्ट्रीम सोसिओलॉजी' (मुख्य-धारा समाजशास्त्र से पुरुष-धारा समाजशास्त्र तक)। 1995 में सम्पन्न इस शोध-ग्रंथ में शर्मिला ने समकालीन नारीवादी चिंतकों का सहारा लेते हुए समाजशास्त्र के मार्क्स, एंगेल्स, वेबर, दुर्खाइम, कॉम्त एवं स्पेंसर जैसे बुनियादी सिद्धांतकारों और दिग्गज विचारकों की मौलिक समीक्षा प्रस्तुत की।[2] आगे चलकर इसी विषय पर उनका सुप्रसिद्ध लेख छपा जिसका शीर्षक था 'समाजशास्त्र और जेंडर-अध्ययन का सांस्थानिक गठबंधन : कहानी मगरमच्छ और बंदर की'। जेंडर-अध्ययन जैसी नवजात सत्ताहीन विधा को समाजशास्त्र जैसी स्थापित-प्रतिष्ठित विधा का सहारा भी लेना पड़ता है और उससे संघर्ष भी करना पड़ता है। ऐसी हालत में कमज़ोर पक्ष को जिस तरह की दुविधाओं का सामना करना पड़ता है और कैसे उनका व्यावहारिक किंतु नीतिगत हल निकालना पड़ता है— इसका सटीक विवरण इस विचारोत्तेजक निबंध में पेश किया गया है। इसकी ख़ासियत है गम्भीरता और विनोद का कारगर मिश्रण। इसी निबंध ने शर्मिला रेगे को एक गम्भीर एवं संवेदनशील विचारक के रूप में स्थापित किया और इसी के बाद उन्हें जेंडर के अग्रणी विद्वानों में शुमार किया जाने लगा।[3]

समाजशास्त्रीय प्रशिक्षण से उपजा दूसरा सवाल जाति और समकालीन जाति-विषमता का था। शर्मिला ने जाति के प्रश्न को स्वेच्छा से चुनी गयी चुनौती के रूप में नये सिरे से आत्मसात् किया। उन्होंने इसे अपने पहले सरोकार जेंडर के साथ जोड़ कर भारतीय समाजवैज्ञानिक परिवेश में एक नये शोध-क्षेत्र को आकार देने में अहम भूमिका निभाई। यह नया क्षेत्र दलित-नारीवाद का है जिसे शर्मिला रेगे ने अपनी विशिष्ट कर्मभूमि बनाया, और इसके समाजशास्त्रीय सिद्धांत के भारतीयकरण में मदद की।[4]

दलित नारीवाद का विचारधारात्मक और सैद्धांतिक आधार है स्टैंडपॉइंट थियरी (दृष्टि-बिंदु सिद्धांत) जो संयुक्त राज्य अमेरिका में अस्सी और नब्बे के दशकों में प्रचलित हुआ। संक्षेप में इस मत की केंद्रीय स्थापना यह है कि हमारा समाज-बोध व यथार्थ-ज्ञान सार्वभौम या संदर्भ-निरपेक्ष नहीं होता, बल्कि यह अवस्थिति-जनित और संदर्भ-निर्भर होता है। यानी हम कहाँ खड़े हैं— यही सवाल हमारी दृष्टि का कोण तय करते हुए हमारे ज्ञान का स्वरूप भी तय करता है। मोटे तौर पर इस सिद्धांत को अस्मिता की राजनीति का विरोधी विकल्प माना जाता है। बारीक़ियों में उतरे बिना यहाँ सिर्फ़ इतना कहना काफ़ी है कि इस विरोध का मूल कारण है अनुभव और ज्ञान के रिश्ते को लेकर बुनियादी मतभेद। जहाँ अस्मिता विमर्श का मानना है कि

---

[2] इस शोध-प्रबंध के संदर्भ में शर्मिला रेगे के गुरु और शोध-निर्देशक वरिष्ठ समाजशास्त्री दत्तात्रेय धनागरे का भावुक विवरण देखें, धनागरे, वही.

[3] इसका एक लक्षण यह है कि समाजशास्त्र के शिखर संस्थान भारतीय समाजशास्त्रीय समाज ने अपनी शोध-पत्रिका सोसियोलॉजीकल बुलेटिन के जेंडर संबंधी लेखों की पुस्तक सम्पादित करने का ज़िम्मा शर्मिला रेगे को ही सौंपा था।, देखें, शर्मिला रेगे (2002), 'कॉनसेप्चुअलाइज़िंग पॉपुलर कल्चर : लावणी ऐंड पवाडा इन महाराष्ट्र', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 37, अंक 11 : 1038-47.

[4] इस काम की शुरुआत हुई 1998 के उस पर्चे से जिसमें शर्मिला ने सुप्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री गोपाल गुरु के लेख पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए दलित नारीवादी दृष्टि-बिंदु की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की. आगे का काम उनकी 2006 में प्रकाशित पुस्तक *राइटिंग कास्ट राइटिंग जेंडर : रीडिंग दलित वुमंस टेस्टिमोनियोस,* ज़ुबान, नयी दिल्ली में मिलता है जिसमें उन्होंने दलित स्त्रियों के जीवन-संदेशों का संकलन किया था. इस दिशा में शर्मिला की आखिरी पहल थी बाबा साहब आम्बेडकर के मनुवादी पितृसत्ता के ख़िलाफ़ लिखे गये निबंधों का संकलन जो उनकी मृत्यु के दो-तीन हफ़्ते पहले प्रकाशित हुआ था. देखें, शर्मिला रेगे (2013), *अगेंस्ट द मेडनेस ऑफ़ मनु : राइटिंग्स ऑन ब्राह्मणिकल पेट्रिआर्की बाय बी.आर. आम्बेडकर,* नवायन. नयी दिल्ली.

अनुभव ही ज्ञान हासिल करने का सर्वश्रेष्ठ और सबसे वैध साधन है, वहीं दृष्टि-बिंदु सिद्धांत का दावा है कि अनुभव और ज्ञान के बीच कोई अनिवार्य या अवश्यम्भावी रिश्ता नहीं है। इस स्थापना का फ़ौरी निहितार्थ यही है कि दलित नारीवादी दृष्टि-बिंदु अपनाने और इसके ज़रिये साध्य ज्ञान पाने के लिए अथक मेहनत और अटूट प्रतिबद्धता की तो दरकार होती है। लेकिन इसके लिए साधक का स्वयं दलित होना आवश्यक नहीं है (क़ायदे से स्त्री होना भी अनावश्यक है)। इस धारणा को ले कर पिछले एक दशक से तनावपूर्ण विवाद चल रहे हैं, क्योंकि इन दिनों एक नयी अस्मिता-प्रधान दलित राजनीति मुखर हुई है। इस पक्ष के अनुसार दलित मुद्दों पर दलित कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों को ही बोलना चाहिए, या कम से कम उन्हें प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जबकि आमतौर पर इसका ठीक उल्टा होता रहा है और ग़ैरदलित वक्ता ही हावी रहे हैं।

ब्राह्मण परिवार में जन्मी दलित समर्थक और पितृसत्तात्मक समाज (दलित व ग़ैर-दलित) में मुखर नारीवादी महिला होने के नाते शर्मिला रेगे इन तनाव भरे मतभेदों की आँच बराबर झेलती रहीं। उन्होंने अपनी ओर से सकारात्मक, ईमानदार और संवेदनशील जवाब देने का सतत प्रयास भी किया। ऐसा नहीं है कि उनके वक्तव्य सदा सर्वमान्य थे या उनकी स्थापनाएँ त्रुटिमुक्त थीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सैद्धांतिक मामलों पर उनकी पकड़ हमेशा सूक्ष्म या सुदृढ़ थी। लेकिन तमाम कमियों-ख़ामियों के बावजूद जिस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता वह है उनकी सम्पूर्ण प्रतिबद्धता। उनमें एक अनोखी असीम ऊर्जा भरी थी और पिछले कुछ सालों में उनसे मिलने वालों को तीव्र एहसास होता था कि शर्मिला अपना सब कुछ— समय, शरीर, समस्त अस्तित्व अपने काम में झोंक दे रही हैं।

शर्मिला ने जाति के प्रश्न को बपौती के रूप में नहीं बल्कि स्वेच्छा से चुनी गयी चुनौती के रूप में नये सिरे से आत्मसात किया। उन्होंने इसे अपने पहले सरोकार जेंडर के साथ जोड़ कर भारतीय समाजवैज्ञानिक परिवेश में एक नये शोध-क्षेत्र को आकार देने में अहम भूमिका निभाई। यह नया क्षेत्र दलित-नारीवाद का है जिसे शर्मिला रेगे ने अपनी विशिष्ट कर्मभूमि बनाया, और इसके समाजशास्त्रीय सिद्धांत के भारतीयकरण में मदद की।

महाराष्ट्र और स्त्री-अध्ययन के बाहर के लोग, जो उनको प्राय: एक बुद्धिजीवी के रूप में जानते हैं, यह जानकर हैरान होंगे कि जिस काम की शर्मिला रेगे स्वयं को इस क़दर ख़र्च कर दे रहीं थीं वह मूलत: सामूहिक-सांस्थानिक था न कि व्यक्तिगत-बौद्धिक। आज के अति-पूँजीवादी युग में अकादमिक जगत भी वैयक्तीकरण और पण्यीकरण की प्रक्रियाओं से गुज़र रहा है। समकालीन अकादमिक बाज़ार का मूल मंत्र है दृश्यमानता, और इसे पाने के लिए ज़रूरी है बिकाऊ माल। इस नज़रिये से देखें तो बौद्धिक श्रम को भुनाने के लिए ज़रूरी है कि उसे किसी ठोस और पृथक् उत्पाद के निर्माण में लगाया जाए जो बाज़ार में अपने निर्माता की पहचान बना सके। और वही बौद्धिक उत्पाद सर्वाधिक दृश्यमानता प्रदान करते हैं जिनकी मिल्कियत स्पष्ट हो, यानी जिन पर किसी व्यक्ति-विशेष का निर्विवाद अधिकार हो। यही कारण है कि किताबें, शोध-लेख व इस क़िस्म की व्यक्ति-संलग्न कृतियाँ ही अकादमिक बाज़ार में मुद्रा और सम्पत्ति के प्रभावी स्वरूप बनते हैं। ऐसे में हर महत्त्वाकांक्षी बुद्धिजीवी की यही कोशिश रहती है कि वह ज़्यादा से ज़्यादा ऐसा माल तैयार कर उसे जल्द से जल्द मण्डी में लाये। इन व्यावसायिक वास्तविकताओं के चलते विश्वविद्यालयों के साधारण शिक्षक तो क्या कर्तव्यनिष्ठ कहलाने वाले प्रोफ़ेसरगण भी उन ज़िम्मेदारियों से बचने लगे हैं जो शोहरत और व्यावसायिक तरक़्क़ी के लिहाज़ से लगभग अप्रासंगिक हो गयी हैं। सबसे ज़्यादा असर पड़ा है अध्यापन कार्य पर, ख़ासकर उन छात्रों के शिक्षण-प्रशिक्षण पर जो कमज़ोर कहलाते हैं, क्योंकि उनके पास न तो सम्पन्न परिवार और महँगी स्कूली-शिक्षा का कवच है और न ही अंग्रेज़ी का ब्रह्मास्त्र। ऐसे छात्रों की शिक्षा-दीक्षा पर मेहनत करके आप अकादमिक बाज़ार के लाड़ले नहीं बन सकते, क्योंकि इस प्रकार के श्रम से दृश्यमानता हासिल करना नामुमकिन है।

ठीक इसी प्रकार के छात्रों के साथ काम करने के लिए शर्मिला रेगे ने अपना कॅरियर दाँव पर लगा दिया। पुणे विद्यापीठ के समाजशास्त्र विभाग की (जिसकी गिनती विषय के अग्रगण्य विभागों में हुआ करती थी) विभागाध्यक्ष नियुक्त होने के बावजूद उन्होंने उसी विश्वविद्यालय के क्रांतिज्योति सावित्रीबाई फुले स्त्री अध्ययन केंद्र का निदेशक बनना बेहतर समझा। इस केंद्र से शर्मिला शुरू से जुड़ी रहीं और उनके व उनके सहकर्मियों के लगभग दो दशकों के अध्यापन व सांस्थानिक काम की बदौलत आज यह देश के सर्वश्रेष्ठ स्त्री-अध्ययन केंद्र होने का दावा कर सकता है। यहाँ कमज़ोर छात्रों के अध्यापन के लिए वह सब कुछ व्यावहारिक रूप से अमल में लाया गया जो औरों के लिए मात्र नेक इरादे तक सीमित रहा है— विशिष्ट सेतु पाठ्यक्रमों का निर्माण व उनकी मदद से छात्रों का सघन मौलिक प्रशिक्षण, द्विभाषी पाठ्यपुस्तकों का लेखन, उपयुक्त सामग्री का मराठी में अनुवाद करने का विस्तृत व योजनाबद्ध प्रयास, और छोटे शहरों व क़स्बों की शैक्षणिक संस्थाओं से औपचारिक व अनौपचारिक स्थायी संबंध। यानी कुल मिलाकर औसत प्रतिबद्ध प्राध्यापक उच्चशिक्षा के जिस स्वाभाविक आभिजात्य का केवल दुखड़ा रोते रहते हैं, उसके ख़िलाफ़ शर्मिला व उनके सहकर्मियों ने एक सुविचारित ज़मीनी जंग छेड़ दी।

कहा जा सकता है कि उच्चशिक्षा का आभिजात्य वह तीसरा सवाल है जो शर्मिला को समाजशास्त्र से मिला, पर यहाँ इसे साबित करने की ज़रूरत नहीं। वैसे भी शर्मिला रेगे को किसी एक अनुशासन या संदर्भ से बाँधकर रखना अनुचित और असम्भव है। उनकी अपनी नज़र में वे एक वेल्डर थीं जिनका काम था पुल बाँधना, सेतु बनना, वंचितों का उस दुनिया से परिचय कराना जिससे वे वंचित रहे हैं, भिन्न और संशयी मतों को एक-दूसरे से मिलवाना। इस लम्बे सफ़र की मंज़िल किसी घर्षण-मुक्त एकता के रूमानी सपने में नहीं थी बल्कि एक ऐसे भविष्य में थी जहाँ पृथक् दृष्टि-बिंदुओं और विशिष्ट सरोकारों में आपसी संवाद की सम्भावनाओं को जीवित रखा जा सकता है।

शर्मिला रेगे को किसी एक अनुशासन या संदर्भ से बाँधकर रखना अनुचित और असम्भव है। उनकी अपनी नज़र में वे एक वेल्डर थीं जिनका काम था पुल बाँधना, सेतु बनना, वंचितों का उस दुनिया से परिचय कराना जिससे वे वंचित रहे हैं, भिन्न और संशयी मतों को एक दूसरे से मिलवाना। इस लम्बे सफ़र की मंज़िल किसी घर्षण-मुक्त एकता के रूमानी सपने में नहीं थी बल्कि एक ऐसे भविष्य में थी जहाँ पृथक् दृष्टि-बिंदुओं और विशिष्ट सरोकारों में आपसी संवाद की सम्भावनाओं को जीवित रखा सकता है।

संदर्भ

जे. देविका, मैरी जॉन, कल्पना कन्नाबिरन, समिता सेन, एवं पद्मिनी स्वामीनाथन (2013), 'ट्रिब्यूट टू ए फुले-अंबेडकराइट फेमिनिस्ट वेल्डर' (एक फुले-आम्बेडकरवादी नारीवादी वेल्डर को श्रद्धांजलि), *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 48, अंक 32.

डी.एन. धनागरे (2013), 'शर्मिला रेगे (1964–2013) : परस्यूइंग नॉलेज फॉर सोसियल ट्रांसफ़ॉरमेशन' (सामाजिक रूपांतरण के लिए ज्ञान की साधना), *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 48, अंक 32.

वुमंस स्टडीज़ क्लास ऑफ़ 2009, *ही थाली भारतीय नाही का?* (क्या यह थाली भारतीय नहीं?), क्रांतिज्योति सावित्री बाई फुले वुमंस स्टडीज़ सेंटर, पुणे विद्यापीठ, पुणे.

मैरी जॉन (2013), 'शर्मिला रेगे (1964–2013)', *कंट्रिब्यूशंस टू इण्डियन सोसिआलजी,* खण्ड 47, अंक 3.

शर्मिला रेगे (1997), 'इंस्टीट्युशनल एलायंस बिटवीन सोसिआलजी ऐंड जेंडर स्टडीज़ : स्टोरी ऑफ़ द क्रॉकोडाइल ऐंड मंकी', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 48, अंक 32.

शर्मिला रेगे (1998), 'दलित वुमॅन टॉक डिफ़रेंटली : अ क्रिटीक ऑफ़ डिफ़रेंस ऐंड टुवर्ड्स अ दलित फ़ेमिनिस्ट स्टेंडपाइंट पोज़ीशन', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 33, अंक 44.

शर्मिला रेगे (2002), 'कॉनसेप्चुअलाइज़िंग पॉपुलर कल्चर : लावणी ऐंड पवाडा इन महाराष्ट्र', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 37, अंक 11.

शर्मिला रेगे (सम्पा.) (2003), *सोसिआलॅजी ऑफ़ जेंडर : द चेलेंज ऑफ़ फ़ेमिनिस्ट सोसिओलॅजिकल नॉलेज,* सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

शर्मिला रेगे (2006), *राइटिंग कास्ट राइटिंग जेंडर : रीडिंग दलित वुमंस टेस्टिमोनियोस,* ज़ुबान, नयी दिल्ली.

शर्मिला रेगे (शृंखला सम्पा.) (2010), *बिल्डिंग ब्रिजज़— ऑन बिकमिंग ए वेल्डर. ब्रिज कोर्स मेनुअल,* क्रांतिज्योति सावित्रीबाई फुले वुमंस स्टडीज़ सेंटर, पुणे विद्यापीठ, पुणे.

शर्मिला रेगे (2013), *अगेंस्ट द मेडनेस ऑफ़ मनु : राइटिंग्स ऑन ब्राह्मणिकल पेट्रिआर्की बाय बी.आर. आम्बेडकर,* नवायन, नयी दिल्ली.

ISSN : 2320-8201

मुज़फ़्फ़रनगर 2013 : राजनीतिक समाजशास्त्र के आईने में हिलाल अहमद ग़दर पार्टी (1913-18) : लहू में भीगी यादें और देशभक्ति का ऐतिहासिक हिंदी-परिप्रेक्ष्य प्रदीप सक्सेना दास्तान-ए-राजनीतिशास्त्र निवेदिता मेनन शर्मिला रेगे : एक अनूठी त्रिवेणी सतीश देशपांडे अनुभव, स्थान और न्याय गोपाल गुरु ओमप्रकाश वाल्मीकि : हिंदी दलित साहित्य का एक पूरा युग बजरंग बिहारी तिवारी आधुनिकता और चण्डीगढ़ का तिलिस्म : पितृसत्ता, जाति और एक शहर की दास्तान नवप्रीत कौर श्रव्य-द्रष्टव्य : हिंदी सिनेमा में रेडियो 2.0 रविकान्त विनोद रैना : जन-शिक्षा के लिए आजीवन संघर्ष सी.एन. सुब्रह्मण्यम लोकधर्मिता, सीमांत की राजनीति व काँवड़ सेवा समितियाँ नरेश गोस्वामी 'नागरी-लेखक' की निर्मिति : उन्नीसवीं सदी के कुछ प्रसंग चंदन श्रीवास्तव बीच बहस में लघु-पत्रिकाएँ : आंदोलन, संरचना और प्रासंगिकता राजीव रंजन गिरि राजेंद्र यादव : एक विरल पराक्रम अर्चना वर्मा हिंदी के नाममाला कोशों में शब्द-विज्ञान श्रुति स्टुअर्ट मेक्ग्रेगर : हिंदी साहित्येतिहास की भिन्न दृष्टि फ्रांचेस्का ऑर्सीनी राज्य का सुरक्षा-विमर्श बनाम लोकतांत्रिक अधिकार : अदालती फ़ैसलों के आईने में राजद्रोह विरोधी क़ानून अनुष्का सिंह गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे : हमारे अपने 'पुनर्जागरण पुरुष' सुभाष गाताड़े इज्तिहाद, तलाक़ और मुसलमान औरतें : भीतर से सुधार की सम्भावनाएँ अमरीन असग़र अली इंजीनियर : इसलाम में लिबरेशन थियोलॅजी की तलाश हिलाल अहमद उदारीकरण, मज़दूर और ट्रेड यूनियनें : मारुति उद्योग में श्रमिक-संघर्ष विकास कुमार अस्मितावादी इतिहास-लेखन की समस्याएँ बजरंग बिहारी तिवारी संविधान की 'सड़क-व्याख्या' आदित्य निगम भारत में नागरिकता : द्वंद्व और अंतर्विरोध कमल नयन चौबे न्याय की रचना और प्रकृति इंद्रजीत कुमार झा गाँधी के 'मैं' के भीतर अहिंसा के 'हम' की तलाश अम्बिका दत्त शर्मा अहिंसक भविष्य के लिए आलोक टण्डन जनपद, संस्कृति और निरंतरता राकेश पाण्डेय जनपदीय अध्ययन की आँख वासुदेव शरण अग्रवाल भारत में प्राक्-इतिहास की निरंतरता दामोदर धर्मानंद कोसम्बी जनपदीयता : आत्मगत और वस्तुगत बरनार्ड एस. कोह्न अंदरूनी/बाहरी : विभेद या परस्पर-निर्भरता सिमोना साहनी राधावल्लभ त्रिपाठी बोन्साय संस्कृति रवींद्र केलेकर